

॥ पंचमोऽध्यायः ॥

उदार-भक्तिभावना प्रकरण
चतुर्थे दिवसे तत्र संज्ञता ऋषयः पुनः।
आरण्यकस्य सत्रे तु ब्रह्मविद्यात्मकेऽन्वहम् ॥ १ ॥
ऋषयः पंक्तिबद्धास्ते पिप्पलादस्य पूर्ववत्।

तत्त्वावधाने तत्त्वस्य विवेचनमभूत्क्रमात् ॥ २ ॥
सूक्ष्मबुद्धिबलश्चाद्य तार्किकः प्रथमासने।
उद्दालकः स्थितो यस्यौत्सुक्यमासीन्महत्तमम् ॥ ३ ॥
टीका—चौथे दिन आरण्यक के ब्रह्म विद्या-सत्र में पहले

की तरह फिर ऋषिगण एकत्र हुए, पंक्ति बद्ध बैठे और महर्षि पिप्पलाद के तत्वावधान में तत्त्व-विवेचन का प्रवाहक्रम चल पड़ा। आज सूक्ष्म बुद्धि के धनी, तर्क प्रवीण उद्दालक अग्रिम पंक्ति में बैठे। उन्हें उत्सुकता अधिक थी ॥ १-३ ॥

उद्दालक उवाच

समयोपयोगे यः प्रोक्तो महाभागऽत्र कर्मणा।

तत्रैकोदेव संदेहः सर्वेषां समुदेति यत् ॥ ४ ॥

समयक्षेपवल्लाभप्राप्तिस्तु तत्समन्वयात्।

किं भविष्यथैतावन्मात्रेणात्मिक प्रोन्नतेः ॥ ५ ॥

कृते त्वावश्यकः सेत्स्यत्यात्मनो विस्तरः कथम्।

सीमाबंधनमात्रं तु नियतेः कर्म भाग्यवत् ॥ ६ ॥

टीका—उद्दालक पूछने लगे, हे महाभाग समय का सदुपयोग कर्म के माध्यम से होने की विवेचना में एक संदेह उठता है कि उस समन्वय से मात्र समयक्षेप जितना ही लाभ मिलकर तो नहीं रह जाएगा? उतने भर से आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक आत्मविस्तार का प्रयोजन कैसे सधेगा? हे महाभाग कर्म तो नियति का मर्यादा बंधन मात्र है ॥ ४-६ ॥

व्याख्या—प्रथम तीन सत्रों की विषय-विवेचना सुनकर भी सभी जिज्ञासु ऋषि मंडली का समाधान पूरी तरह हुआ नहीं। कर्मयोग और जीवन साधना, आत्म तत्त्व और दैवी अनुदान जैसे प्रसंगों को उन्होंने सुना, आत्मसात् किया। पर यह दुविधा उद्दालक ऋषि के मन में यथावत् बनी हुई है कि जीव की, आत्मविस्तार की चरम इच्छा का लक्ष्य इससे किस प्रकार सधेगा? कर्म तो विधि की व्यवस्थानुसार जीव करते ही रहते हैं पर इससे उस लक्ष्य की सिद्धि कहाँ हुई जिसे आत्मिक प्रगति का अनिवार्य क्रम माना जाता है। अहं का विसर्जन तथा उस महत्तत्त्व में उसका विलय किस प्रकार बने, यह एक ऐसी जिज्ञासा है जिसका समग्र रूप में समाधान हुए बिना चर्चा अधूरी ही रह जाती है।

शृंगलायां तु तस्यामाबद्धा हेतुना सदा।

अस्तव्यस्ततायास्तदनौचित्यं निरुध्यते ॥ ७ ॥

क्रमप्राप्तानि दायित्वान्युचितं वोढुमेव तु।

संभवेतुस्तथा तस्यां सीमायां ये स्थिताः प्रभोः ॥ ८ ॥

तरंगाः कथमापूर्तिस्तेषां कर्तुं तु संभवेत्।

आत्मानं भक्तिभावेन विदधात्यनुप्राणितम् ॥ ९ ॥

तदमृतं कथं पातुं शक्येतेति सविस्तरम्।

सर्वसाधारणस्यालं कल्याणं येन संभवेत् ॥ १० ॥

टीका—उस शृंगला में आबद्ध रहने से अस्त-व्यस्तता का अनौचित्य रुकता है और लदे हुए उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार सहन कर सकना बन पड़ता है। उतनी सीमा में रहने वाले पुण्य परमार्थ की उन उमंगों की आपूर्ति कैसे कर सकेंगे, जो आत्मा को भक्ति-भावना से अनुप्राणित करती है।

उस अमृत का रसास्वादन कैसे किया जाए? यह विस्तार से बतावें, जिससे सर्वसाधारण का कल्याण हो सके ॥ ७-१० ॥

व्याख्या—सुव्यवस्थित रीति से किए गए कर्म एवं दायित्वों का निर्वाह जीवन के व्यवहार पक्ष को तो पूरा कर देते हैं, परंतु इसके अतिरिक्त भी एक ऐसी धारा शेष रह जाती है जिसे जीवन में मिलाए बिना वह एक शुष्क स्वचालित व्यवस्था मात्र रह जाता है। वह धारा है हृदय से निस्सृत होने वाली उमंगें, उच्चस्तरीय संवेदनाएँ, लोकमंगल युक्त परमार्थपरक भावनाएँ जो आत्मा को एक शाश्वत आनंद की गंगोत्री सिद्ध करते हैं। परमात्मा का यही एक ऐसा गुण है जो आत्मा में कूट-कूटकर भरा है। पर इस अमृत को कैसे जीवन में घोला जाए, इससे स्वयं तथा औरों को कैसे लाभांविता किया जाए, यह जाने बिना अध्यात्म दर्शन की विवेचना अधूरी है, ऐसा ऋषि समझते हैं।

मनुष्य को प्रकृति से जो संपदाएँ मिली हैं उन्हें वह संयम पूर्वक सँभालें और सही ढंग से खरच करें, यह आवश्यक है। स्थूल दृष्टि वाले यहीं तक मनुष्य के विकास की कल्पना करते हैं। किंतु प्रश्नकर्ता उद्दालक सूक्ष्म बुद्धि के धनी हैं। इसलिए उन्होंने उससे आगे की बात उठाई। मनुष्य मात्र कुशलता और व्यवस्था में सीमित नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो संवेदना, आत्मीयता जैसे भावों, तथा कला एवं संगीत जैसी विधाओं की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। देखते हैं कि माँ पुत्र के प्रेम में अपने सारे सुखों की बलि चढ़ा देती है। बेटा माँ के वक्ष से चिपटकर संसार के सारे अभाव भूल जाता है। पति पत्नी एक दूसरे के प्रेम के सहारे बड़े-बड़े खतरे हँसते-हँसते पार कर जाते हैं। इसके विपरीत संपन्न घरों के, सारी सुविधाओं से घिरे बालक स्नेह के अभाव में रूखे चिड़चिड़े देखे जाते हैं।

यह सब उसी अंतःक्षेत्र से प्रवाहित अमृत धारा की बहिरंग में अभिव्यक्ति ही तो है।

कर्मणः समयस्यापि कुर्वतस्ते समन्वयम्।

महत्त्वाकांक्षिणो मोहग्रस्ता दृश्यंत एव हि ॥ ११ ॥

श्रमशीला अनेके च प्रयासपरितत्पराः।

प्राप्यंते भिन्नमेतन्न संति ते कर्मयोगिनः ॥ १२ ॥

पुरुषार्थिनस्तु प्रोच्यंते संपन्नाः सफला अपि।

प्राप्यंते कृतयोगास्ते नैवजीवनसंपदाम् ॥ १३ ॥

मीयते समयस्याथ कर्मणस्तु समन्वयात्।

अतिरिक्तं किमप्यास्ते तथ्यं गुप्तं सदैव तु ॥ १४ ॥

यद्येवं कृपयोद्बोधय रहस्यं नः कृपानिधे।

मूर्द्धन्यस्तत्त्ववेत्तृणां सत्रसूत्रस्यचालकम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मज्ञः पिप्पलादस्तां जिज्ञासां ध्यानपूर्वकम्।

श्रुत्वा प्रसन्नतां यातो विपुलां संजगाद च ॥ १६ ॥

१.३६ प्रज्ञोपनिषद्

टीका—समय और कर्म का समन्वय करते तो मोहग्रस्त महत्वाकांक्षी भी देखे जाते हैं। कर्मयोगी न सही, श्रमशील और प्रयास तत्पर तो अनेकों पाए जाते हैं, उन्हें पुरुषार्थी तो कहा जाता है, किंतु वे जीवन संपदा को कृतकृत्य करने वाले कहाँ होते हैं लगता है समय और कर्म के समन्वय के अतिरिक्त भी कोई तथ्य छिपा रह गया है। यदि ऐसा हो, तो कृपया उस रहस्य का उद्घाटन कीजिए। तत्त्वेत्ताओं में मूर्द्धन्य इस सत्र के सूत्र-संचालक ब्रह्मवेत्ता पिप्पलाद ने जिज्ञासा को ध्यानपूर्वक सुना, बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥ ११-१६ ॥

व्याख्या—सामान्यतया जीवन व्यापार में यंत्रवत् कर्म को सफलता का जन्मदाता माना जाता है। देखा भी जाता है कि समय का सुनियोजन और कर्म की तत्परता का समावेश कर भौतिक जगत में सामान्य जन वैभव भी पाते हैं तथा श्रेय भी। परंतु जिस कारण मनुष्य का मानव शरीर पाना सार्थक कहा जाता है उसका कहीं नाम देखने को नहीं मिलता। उमंगों वेदनाओं से रहित जीवन किस प्रकार उद्देश्य की सफलता का कारण बन सकता है, एक बहुत सूक्ष्म जिज्ञासा ऋषिवर उद्दालक के समक्ष है। श्रमशीलता, कर्त्तव्य परायणता तथा सुव्यवस्था के अतिरिक्त भी जीवन में कोई ऐसा तत्त्व समाविष्ट होना रह गया है, जिसके बिना जीवन साधना अधूरी है, ऐसा वे मानते हैं। इसे एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर वे उस पक्ष को विस्तार से जानने की अपनी व सभी उपस्थित श्रोता विद्वानों की उत्कंठा को इस सारगर्भित प्रश्न से व्यक्त करते हैं।

पिप्पलाद उवाच

अहं क्रमिकचर्चायां तस्मिन्नेव प्रसंगके।

आसं चर्चितुकामस्तु साधु तत्स्मारितं त्वया ॥ १७ ॥

अधुना तत्प्रसंगे तु वक्तुमुत्साह एष मे।

वृद्धिगतो भवद्भिश्च श्राव्यमग्रे सचित्तकैः ॥ १८ ॥

टीका—महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा क्रमिक चर्चा में उस प्रसंग पर चर्चा करने ही वाला था, किंतु आपने उसका स्मरण दिलाकर अच्छा ही किया। अब उस संदर्भ में कुछ अधिक कहने का मेरा उत्साह बढ़ा है। आगे की बात आप सब ध्यानपूर्वक सुनें ॥ १७-१८ ॥

त्रिधात्मिकायां विश्वस्य व्यवस्थायामृषीश्वराः।

प्रकृतीश्वरजीवानामिव क्षेत्रे चित्तेरपि ॥ १९ ॥

तिस्रो निर्धारणाः संति प्रगतेस्तु क्रमस्य ताः।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चानाम्नोच्यंते मनीषिभिः ॥ २० ॥

छात्राध्ययनसंबंधिविषयाणामिव क्रमात्।

एकमेकं समादाय योजयेत् परिवर्धयेत् ॥ २१ ॥

टीका—हे ऋषियो इस त्रिधा व्यवस्था में ईश्वर जीव प्रकृति की तरह चेतना क्षेत्र के भी प्रगतिक्रम की तीन निर्धारणाएँ

हैं। विद्वान लोग एक को ज्ञान, दूसरे को कर्म, तीसरे को भक्ति कहते हैं। इन्हें छात्रों के अध्ययन विषयों की तरह क्रमशः एक-एक करके जोड़ना बढ़ाना पड़ता है ॥ १९-२१ ॥

व्याख्या—दो वस्तुओं के मिलने से तीसरी बनती है। दिन और रात्रि की मिलन वेला को संध्या कहते हैं। संध्या न रात है, न दिन, पर उसमें दोनों का अस्तित्व है। जीव भी इस प्रकार दो सम्मिश्रणों का तीसरा रूप है। पर ब्रह्म परमात्मा और पंचभौतिक प्रकृति इन दोनों के सम्मिश्रण से, जो तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है उसका नाम जीव है। चेतन ब्रह्म के गुण आत्मिक चेतना, अंतःकरण एवं भावना के रूप में हमारे अंदर विद्यमान हैं। प्रकृति जड़ है इसलिए शरीर का सारा ढाँचा ही जड़ है। जीव की चेतना व जड़ से ही वह चलता है।

सृष्टि की ऊपर वर्णित व्यवस्थानुसार चेतना जगत में भी सत्, चित्, आनंद रूपी परब्रह्म की विशेषताएँ ज्ञान, कर्म व भक्ति की तीन धाराओं के रूप में जीव सत्ता का प्रगतिक्रम निर्धारित करती पाई जाती हैं। न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति विशेष में इस क्रम में अंतर पाया जाता है। तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं व एक दूसरे के बिना अपूर्ण भी।

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य विकासक्रम पद्धतौ।

सर्वप्रथममध्यात्मज्ञानस्यास्ति हि भूमिका ॥ २२ ॥

सा न चेन्मानवो जाड्यभवंबंधनपाशितः।

तिरश्चामिव संबद्धः शिश्नोदरपरायणः ॥ २३ ॥

वासनायाश्च तृष्णाया अतिरिक्तमथापि च।

अहंताया न ज्ञातुं स प्रभवेत् स्थितिरीदृशी ॥ २४ ॥

आत्मज्ञानमिदं येन स्वरूपं मानवः स्वकम्।

कर्त्तव्यं च भविष्यच्च द्रष्टुं पारयति ध्रुवम् ॥ २५ ॥

आधारेण स एतेन सुषुप्तिं तां विहाय हि।

जागृतौ विशति प्रोक्तः देवजन्मात्मबोधकः ॥ २६ ॥

टीका—अध्यात्म क्षेत्र के विकास क्रम के मार्ग में सर्वप्रथम आत्मज्ञान की भूमिका है। वह न हो तो मनुष्य जड़ता के भव-बंधनों में ही बँधा रहेगा। पाशबद्ध तिर्यक् योनियों की तरह शिश्नोदर परायण ही बना रहेगा। वासना, तृष्णा और अहंता के अतिरिक्त और कुछ सूझेगा ही नहीं तथा यही स्थिति बनी रहेगी। वह आत्मज्ञान ही है, जिसके कारण मनुष्य को अपना स्वरूप, कर्त्तव्य और भविष्य दृष्टिगोचर होता है। उसी आधार पर वह सुषुप्ति छोड़कर जागृति में प्रवेश करता है। आत्मबोध को ही देवजन्म कहा गया है ॥ २२-२६ ॥

व्याख्या—सांसारिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान की भूमिका अलग है। बाह्य क्रियाकलापों, जीवन व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी से सर्वथा भिन्न अपने आपे का ज्ञान है। ज्ञान को प्रकाश दृष्टि कहा गया है। जिसे वह मिल

गई वह पशु स्तर से ऊँचा उठकर मानव जीवन का लक्ष्य अपने अवतरण का सही उद्देश्य समझ पाता है।

अन्य जीवों व मनुष्यों में अंतर तो यही है। मनुष्य के अंतः चक्षु खुलने, अंदर आलोक पहुँचने भर से वह पेट-प्रजनन वाली अपनी चिरसंचित प्रवृत्ति प्रेरित क्रियाओं को छोड़कर आत्मिक प्रगति का महत्त्व समझने और उस दिशा में अग्रसर होने का प्रयास करने लगता है। आत्मज्ञान का अभाव ही चेतन प्राणधारी मनुष्य की जड़, चलता-फिरता पौधा सिद्ध करता है। जब आत्मज्ञान रूपी प्रकाश किरणें अंदर प्रवेश करती हैं तो प्रसुप्त की स्थिति जागृति में बदल जाती है।

आत्मप्रेरणयोदेति कृपया च गुरोरयम्।

यो हि जीवन-क्षेत्रस्य प्रथमाभूतिरुच्यते ॥ २७ ॥

इमं ये प्राप्नुवन्त्यभ्युदयद्वारमनावृतम् ।

कुर्वन्त्यग्रे सरन्त्येते मुख्यलक्ष्यदिशिध्रुवम् ॥ २८ ॥

टीका—यह आत्मप्रेरणा और आत्मबोध गुरु कृपा से होता है। इसे जीवन क्षेत्र की प्रथम विभूति कहा गया है। जो इसे पाते हैं, अभ्युदय का द्वार खोलते और परम लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होते हैं ॥ २७-२८ ॥

व्याख्या—अध्यात्म क्षेत्र में मार्गदर्शक की महत्ता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। पुरुषार्थ तो स्वयं ही करना पड़ता है पर उँगली पकड़कर चौराहे के भ्रम जंजाल से मुक्ति दिलाना, लक्ष्यबोध करा देना गुरु द्वारा ही संभव है। गुरु की कृपा आत्म प्रेरणा के रूप में आती है तथा बोध कराती है कि क्या करना है, किसलिए जीवन मिला है, कैसे इसे सफल बनाना है? यह हो जाना अर्थात् आत्मिक प्रगति का द्वार खुल जाना। फिर कोई अड़चन मार्ग में नहीं आती।

आत्मप्रगतिसोपानं द्वितीयं कर्मचोच्यते।

कर्मांथात् कर्मयोगोऽयं कर्मयोगश्च सोऽर्थतः ॥ २९ ॥

मनुष्यतापक्षधरकर्तव्यानीति मन्यताम् ।

अथाप्युत्तरदायित्वपरिपालनमेव च ॥ ३० ॥

कर्मनिष्ठा सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैः समागताः।

दुष्प्रवृत्तिर्नियच्छंती सत्प्रवृत्तिः सुसंगताः ॥ ३१ ॥

कुर्वती प्रखरं मर्त्यं प्रामाणिकमथापि च।

पुरुषार्थं दिशाबद्धं कुर्वतः कर्मयोगिनः ॥ ३२ ॥

पराक्रमं समाश्रित्य तं ततस्ते यशस्विनः।

भवन्ति विविधास्ते सफलतां प्राप्नुवन्ति च ॥ ३३ ॥

टीका—आत्मिक प्रगति का दूसरा सोपान है कर्म। कर्म अर्थात् कर्मयोग, कर्मयोग अर्थात् मानवता के पक्ष धर कर्तव्य, उत्तरदायित्वों का परिपालन कर्मनिष्ठा, संचित-कुसंस्कारों के कारण उत्पन्न होने वाली दुष्प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करती और सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव में सम्मिलित करके मनुष्य को प्रामाणिक

एवं प्रखर बनाती है। कर्मयोगी अपने पुरुषार्थ को दिशाबद्ध करते हैं, उस पराक्रम के आधार पर अनेकानेक सफलताएँ पाते और यशस्वी बनते हैं ॥ २९-३३ ॥

व्याख्या—प्रज्ञासत्र के तीसरे दिन संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता प्रकरण के अंतर्गत चर्चा करते हुए महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कर्मयोग को संयम का पूरक बताते हुए कहा था कि उच्च उद्देश्यों से जुड़े कर्तव्यों का पालन करते हुए ही मनुष्य विश्वंभर कहलाता है। आज मनुष्य के चेतना क्षेत्र की तीन धाराओं के अंतर्गत चर्चा करते हुए वे आत्मज्ञान के बाद कर्मनिष्ठा की व्याख्या करते हैं। कर्म तो सभी करते हैं पर आत्मिक प्रगति के अंतर्गत जब भी कर्मयोग की व्याख्या की जाती है, उसे मनुष्यता से जुड़ा तथा दिशाबद्ध होने पर ही समग्र एवं मानवी पुरुषार्थ को सफल बनाने वाला माना जाता है। ऐसे कर्मयोगी ईश्वर द्वारा बड़े विश्वास से सौंपी गई जिम्मेदारियों का पूर्ण निर्वाह करते हुए आत्म नियंत्रण का अभ्यास कर अपनी प्रखरता सत्प्रयोजनों में नियोजित कर देते हैं।

वर्द्धते चेद्विकासस्य क्रमो ज्ञानेन कर्म च।

युज्यते प्रौढताऽऽयाति ततोभक्तिर्विजृम्भते ॥ ३४ ॥

क्रीडन्त्येवार्थकास्ते च क्रीडन्त्यपि किशोरकाः।

प्रौढाः क्रीडन्ति कुर्वन्ति पौरुषोपाजानान्यपि ॥ ३५ ॥

ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेणी सेदृशं मता।

गंगायमुनायोर्योगे यथा शुभ्रा सरस्वती ॥ ३६ ॥

ज्ञानस्य कर्मणश्चापि संयुक्तोऽभ्यास एष चेत्।

दिशां शुद्धां क्रामतीत्यं तत्र भक्तेर्नवोदयः ॥ ३७ ॥

आत्मनस्तु विकासस्य प्रौढतायां तु कर्मणा।

ज्ञानेन सह भक्तेः स उदयो नव उच्छलेत् ॥ ३८ ॥

टीका—विकासक्रम बढ़ता है, तो ज्ञान के साथ कर्म जुड़ता है। प्रौढ़ता आती है, तो कर्म के अतिरिक्त भावना की उमंगें भी उभरती हैं। बालक मात्र खेलते हैं, किशोर खेलते और पढ़ते हैं, प्रौढ़ खेलते भी हैं, पढ़ते भी हैं और उपार्जन पुरुषार्थ भी करने लगते हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी ऐसी ही है, जैसे गंगा में यमुना का मिलन और इससे कुछ ही आगे उनके साथ सरस्वती का समन्वय। ज्ञान और कर्म का संयुक्त अभ्यास यदि सही दिशा में चल रहा होगा तो उसमें भक्ति का नया उभार ही होगा। आत्मविकास की प्रौढ़ता में ज्ञान-कर्म के साथ भक्ति का नया उभार उमँगता है ॥ ३४-३८ ॥

व्याख्या—सद्ज्ञान प्रेरित कर्मों में भावना का समावेश आंतरिक परिपक्वता का चिह्न है। यह आध्यात्मिक प्रगति की चरम सीमा है। भाव संवेदनाओं, श्रेष्ठता की उमंगों के जीवन में समावेश का अर्थ है श्रद्धा को ईश्वर विश्वास को

१.३८ प्रज्ञोपनिषद्

अपने अंतः में स्थान दे देना। ज्ञान व कर्म को जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में सत्प्रयोजनों से जोड़ दिया हो, भक्ति की भावतरंगें स्वतः ऊपर उमड़ आती हैं। ज्ञान, कर्म भक्ति की यह त्रिवेणी व ऐसा तीर्थराज हम सबके अंदर विराजमान है जिसमें स्नान अवगाहन कर हम अपने जीवन को कृतकृत्य बना सकते हैं।

प्रेमादर्शान् प्रतीत्यं तानुनेतुं चाप्यनुन्नतान्।

वर्धमानजनांश्चापि प्रोत्साहयितुमञ्जसा ॥ ३९ ॥

सहजा या समुत्कंठा तत्र भक्तेर्मनोरमा।

सुषमा दृश्यते दिव्या विशाला च महामुने ॥ ४० ॥

टीका—आदर्शों के प्रति प्रेम। पिछड़ों को उठाने की बढ़तो को बढ़ाने की सहज उत्कंठा में भक्ति की झाँकी मिलती है, जो दिव्य व विशाल होती है ॥ ३९-४० ॥

व्याख्या—भक्ति का अर्थ है श्रेष्ठता से प्रगाढ़ स्नेह। भक्ति हमेशा सोद्देश्य होती है और उसमें देवत्व के अनुरूप ही आत्म विस्तार की भावना का समावेश होता है। सच्चा भक्त कभी भी अपने से छोटों पिछड़ों को उठाए बिना अपने उत्कर्ष की बात नहीं सोचता। भक्ति का अर्थ विह्वल होकर भावना का मात्र स्मरण करना नहीं अपितु अपने भीतर उमड़ने वाली श्रद्धा और करुणा से असंख्यों असमर्थों को अनुप्राणित करना है।

स्वशरीरे कुटुंबे च सीमितं प्रेम प्रोच्यते।

मोहो, व्यापकतां यातो भक्तित्वेन प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

उदार सेवारूपेऽथ साधनारूपकेऽपि वा।

उदारा परिणतिस्तस्या स्वत्वं सर्वेषु वर्धते ॥ ४२ ॥

नहि तत्र परः कोऽपि दृश्यते तान् स्वकान्।

सुसंस्कृतांश्च सुखिनः कर्तुमाकुलतोचिता ॥ ४३ ॥

भक्तेषु मनुजेष्वेवमाकुलत्वं तु दृश्यते।

ग्रहीतुं विस्मरंतस्ते दातुमेव स्मरन्ति हि ॥ ४४ ॥

टीका—प्रेम जब शरीर परिवार तक सीमित रहता है, तो उसे मोह कहा जाता है, किंतु जब वह व्यापक आत्मीयता के रूप में प्रकट होता है, तो भक्ति भावना के रूप में सराहा जाता है। उसकी परिणति उदार सेवा-साधना के रूप में होती है। सभी अपने लगते हैं। कोई विराना नहीं रहता। अपनों को सुखी और सुसंस्कृत बनाने के लिए आकुलता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भक्तजनों में ऐसी ही पारमार्थिक आकुलता पाई जाती है। वे लेने की बात भूल जाते हैं, देना ही देना स्मरण रहता है ॥ ४१-४४ ॥

व्याख्या—परिवार परिकर से प्रेम आरंभ होता है एवं विश्व परिवार तक पहुँचकर विस्तृत बन जाता है। जो परिवार को स्नेह-सहकार से न भर सका, वह विश्व को क्या प्यार बाँट पाएगा?

दातुं सर्वस्य मर्त्यस्य संति स समयः श्रमः।

चिन्तनं कौशलं शौर्यं परामर्शाहिताऽपि च ॥ ४५ ॥

अतिरिक्तमतः स्वस्योपार्जनं सञ्चयस्तथा।

आंशिकस्तु भवत्येव पार्श्वे सर्वस्य निश्चितम् ॥ ४६ ॥

टीका— देने के लिए हर मनुष्य के पास श्रम, समय, चिंतन, कौशल, प्रभाव, परामर्श जैसी ईश्वर प्रदत्त क्षमताएँ अनेकों हैं। इसके अतिरिक्त अपना उपार्जन एवं संचय भी कुछ न कुछ अवश्य हर किसी के पास होता है ॥ ४५-४६ ॥

व्याख्या—कोई आवश्यक नहीं कि देने वाला धन की दृष्टि से समर्थ संपन्न ही हो। हर व्यक्ति ईश्वर की दी हुई ऐसी विभूतियों से लदा हुआ है कि अंत में सदाशयता हो तो वह अक्षय भंडार कभी खाली नहीं होने वाला। अपनी उपार्जित संपदा श्रम, समय, चिंतन, कौशल, प्रभाव, परामर्श रूपी छहः दिव्य विभूतियों से अलग है। परमार्थ प्रयोजन हेतु कोई श्रमदान करना चाहे तो संयुक्त शक्ति से भवन निर्माण, अस्वच्छता निवारण एवं व्यक्तिगत रूप से अशक्त असमर्थ की सहायता कर सकना संभव है। समय संपदा का उपयोग सत्प्रवृत्ति विस्तार, निरक्षरों को अक्षर ज्ञान जैसे पुण्य प्रयोजनों में हो सकता है। चिंतन के माध्यम से मनीषी साहित्य, सेवा, विचार क्रांति तथा लोगों के जीवन में विधेयात्मक मोड़ लाने का कार्य करते रहे हैं। कौशल शिल्पी के पास भी होता है व चिकित्सक के पास भी। अपना क्रिया कौशल एवं अर्जित ज्ञान ईश्वरीय उपहार मानकर उसे बाँटना आरंभ करे तो निःस्वार्थ सेवा सुश्रूषा तथा सृजनात्मक गतिविधियों के रूप में व्यक्ति निश्चय ही परमार्थ कार्य कर सकता है।

कुछ व्यक्ति त्व संपन्न, व्यवहार कुशल होने के नाते समाज में अपना विशेष प्रभाव रखते हैं। स्वयं न दे सकने की स्थिति में होते हुए भी सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु वे अपना दबाव ऐसे वर्ग पर रखते हुए समाज सेवा कर सकते हैं जो स्वयं अपनी ओर से देने की पहल नहीं करता। परामर्श में विलक्षण अद्भुत सामर्थ्य है। दिग्भ्रांत व्यक्ति को अपने अनुभव जन्म परामर्श से सही दिशा में चलने हेतु प्रवाह बना देना किसी का जीवन बदलने के समान है।

संकीर्णयां तु स्वार्थस्य परतायां नियंत्रणे।

जाते न्यूनतमे तेषां निर्वाहक्रम उच्छलेत् ॥ ४७ ॥

सुरक्षितो निधिः पार्श्वे स इयान् कर्मयोगिनः।

चरितार्थयितुं भक्तेर्भावनां पारमार्थिके ॥ ४८ ॥

प्रयोजने ऽनुदानानि प्रस्तूयाच्छ्लाघ्यकानि हि।

कृपणेषु हि दारिद्र्यं कृत स्थानं तु दृश्यते ॥ ४९ ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाते ही न्यूनतम में उनका निर्वाह क्रम चल जाता है। कर्मयोगी के पास इतनी बचत पूँजी रहती है, कि वह भक्ति-भावना को चरितार्थ

करने के लिए परमार्थ-प्रयोजनों के लिए सराहनीय अनुदान प्रस्तुत कर सकें। दरिद्रता तो मात्र कृपणों पर छाई रहती है ॥ ४७-४९ ॥

व्याख्या—भक्ति भावना अंदर तक ही सीमित न रहे। वह परमार्थ हेतु सत्कर्मों के रूप में अभिव्यक्त हो तो ही वह सार्थक है। वृत्ति कृपण जैसी हो तो कुबेरों का खजाना भी व्यर्थ है। उदार के लिए तो प्रतिकूल परिस्थिति में भी परमार्थ की आकुलता रहती है।

निराकारः प्रभुश्चित्ते नरस्यावतरत्ययम्।

तस्यानुभूतिरुच्चस्य स्तरस्यैव तु प्रेमके ॥ ५० ॥

भवति ज्ञायते या च भक्तिरूपेण मानवैः।

आदर्शाबद्धमात्मीयत्वं हि भक्तेस्तु भावना ॥ ५१ ॥

तस्या अभ्यास एकांत ईश्वरायात्मनो मुने।

समर्पणस्य श्रद्धाया उदयाय विधीयते ॥ ५२ ॥

परिपक्वामवस्थां सा श्रयते तु यथा-यथा।

उदारात्मीयतारूपे व्यापके समुदेति च ॥ ५३ ॥

टीका—ईश्वर निराकार है। उसका अवतरण मनुष्य के अंतःकरण में होता है। उसकी अनुभूति उस उच्चस्तरीय प्रेम में होती है जिसे भक्ति रूप में मनुष्यों द्वारा जाना जाता है। आदर्शों के साथ लिपटी हुई आत्मीयता ही भक्ति भावना है। भक्ति का एकांत अभ्यास ईश्वर को आत्म समर्पण करने की श्रद्धा उभारने के रूप में किया जाता है। जैसे-जैसे वह परिपक्व होती है, उदार-आत्मीयता के रूप में प्रकट होती और व्यापक बनती है ॥ ५०-५३ ॥

व्याख्या—ईश्वर का सही स्वरूप है अंतः में श्रेष्ठता के प्रति अनुराग विकसित होना तथा उसका आत्मीयता के रूप में बहिरंग में व्यक्त होकर चारों ओर फैल जाना। अहं विसर्जन के इस पुरुषार्थ को श्रद्धा कहते हैं, जिसे उभारने मात्र के लिए भक्ति का एकांत अभ्यास किया जाना है यह प्राथमिक स्थिति है क्रमिक गति से विकसित होकर यह अपने तक सीमित न रहकर चारों ओर विस्तृत हो जाती है। सब अपने ही दिखाई पड़ते हैं।

प्रेमेव परमेशोऽस्ति स आनंदस्वरूपधृक्।

जडो वा चेतना वाऽपि प्रियतां याति प्रेमतः ॥ ५४ ॥

ईश्वरं प्रति प्रेम्णैति श्रद्धाऽऽदर्शान् प्रति ध्रुवम्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु दृष्टिकोणो भविष्यति ॥ ५५ ॥

वसुधैव कुटुंबं च भावनायाः क्रियान्वितिः।

कर्तारस्ते क्रियालापाश्चलिष्यन्त्यञ्जसैव तु ॥ ५६ ॥

टीका—प्रेम ही परमेश्वर है। वह आनंदस्वरूप है। जिस जड़-चेतन से प्रेम करते हैं, वही प्रिय लगने लगता है। ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ेगा तो आदर्शों के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी। आत्मवत् सर्वभूतेषु का दृष्टिकोण उभरेगा और वसुधैव कुटुंबकम् की

भावना को क्रियान्वित करने वाले क्रियाकलाप सहज ही चल पड़ेंगे ॥ ५४-५६ ॥

व्याख्या—ईश्वर प्रेम का मापदंड एक ही है आदर्शों से घनिष्ठ रूप में जुड़ जाना। अपना आपा ही सर्वत्र बिखरा दिखाई दे तथा सारी धरती अपना परिवार, तो सारे क्रियाकलाप स्वतः ही परमार्थ युक्त होने लगते हैं। सघन प्रेम जिस पर आरोपित किया जाता है वही आत्मीय हो जाता है। भक्ति की यही भावना व्यक्ति को परमेश्वर की श्रेष्ठ संतान सिद्ध करती है।

बालानां भक्षणो प्रीतिस्तथा ऽऽदाने परं तु ते।

प्रौढा विभज्य काले च क्षुधार्तास्ते ददत्यपि ॥ ५७ ॥

एवंविधा उदारानुदानिनो ये वरं तु ते।

अभावग्रस्ता दृश्यन्ते रसाग्राहिविलासिनाम् ॥ ५८ ॥

आत्मतोषस्य लोकस्य मानस्याऽनुग्रहस्य च।

दैवस्य त्रिविधो लाभः प्राप्यते तैस्तु यः सदा ॥ ५९ ॥

स समस्तस्य विश्वस्य वैभवादतिरिच्यते।

आनंददायकत्वेनामृतं लब्धं तु तैर्नरैः ॥ ६० ॥

टीका—बालकों को खाने और पीने में रुचि होती है, किंतु प्रौढ़ परिपक्व मिल-बाँटकर ही नहीं खाते, अवसर आने पर स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को खिलाते हैं। ऐसे उदार अनुदानी रस लेने वाले विलासियों की तुलना में अभावग्रस्त तो दीखते हैं, पर उन्हें आत्मसंतोष, लोकसम्मान एवं दैवी अनुग्रह का जो त्रिविध लाभ सदा मिलता है, उसे संसार भर के समस्त वैभव से भी अधिक आनंददायक पाया जाता है, मानो उन्होंने अमृत पा लिया है ॥ ५७-६० ॥

व्याख्या—देने वाले, खिलाने वाले ही भगवान की दृष्टि में प्रौढ़ परिपक्व हैं। वे स्वयं बहिरंग में तो निर्धन अभावग्रस्त दिखाई पड़ते हैं पर उनकी अंतः की संपदा का भंडार इतना विशाल होता है कि सारा लौकिक वैभव उसके समक्ष झुकता है। ऐसा करके बदले में वे आत्मसंतोष, जनश्रद्धा तथा प्रभु की अजस्र अनुकंपा की विभूतियाँ पाते हैं जो उन्हें धन्य बनाती हैं तथा सच्ची संपदा से विभूषित करती हैं।

उदारमनसां भक्त - जनानां जीवनं मुने।

विप्राऽपरिग्रहित्वेन स्वभावेन युतं भवेत् ॥ ६१ ॥

परायणं परार्थे च साधूनामिव जायते।

न भवंति धनाध्यक्षा यद्यप्येते तथापि तु ॥ ६२ ॥

आत्मिकानां विभूतीनां निर्धौस्ते प्राप्नुवंत्यलम्।

कुबेरसंपदा येभ्यो न्यूना मन्येत निश्चितम् ॥ ६३ ॥

टीका—उदारमना भक्त जनों का जीवन ब्राह्मणों जैसा अपरिग्रही और साधुओं जैसा परमार्थ परायण रहता है। अस्तु वे धनाध्यक्ष तो नहीं बनते, पर आत्मिक विभूतियों का इतना भंडार उन्हें उपलब्ध होता है जिसकी तुलना में कुबेर की

१.४० प्रज्ञोपनिषद्

संपदा भी स्वल्प मानी जा सके ॥ ६१-६३ ॥

व्याख्या—भक्त कभी स्वयं के लिए संपन्नता नहीं चाहता, सदैव बाँटने को आतुर रहता है। इसी को ब्राह्मण वृत्ति कहते हैं। ब्राह्मण वर्ण जाति से नहीं अपितु व्यक्ति कर्मों से होता है। ऐसा सादा जीवन जीकर वह विश्व मानव के कल्याण की परमेश्वर की इच्छा में ही अपनी इच्छा मिलाता है। ब्राह्मण को प्रलोभन कभी विचलित नहीं करते व जो भी उपलब्ध होता है उसी में संतोष कर लेते हैं।

भक्तेरुदारभावस्य जायते त्वरुणोदयः।

सहकारिप्रवृत्तौ तत्प्रयासोऽत्र विधीयताम् ॥ ६४ ॥

वासः परस्परापेक्षी विभाजापेक्षि भोजनम्।

स्थितिः प्रमोदपूर्णा च ह्यस्या एवोपलभ्यते ॥ ६५ ॥

सहयोगेन पंथाः स प्रशस्तः प्रगतेर्मतः।

संघबद्धत्वमेवेदं सामर्थ्यं परमं स्मृतम् ॥ ६६ ॥

टीका—भक्ति की उदार भावना का अरुणोदय सहकारिता की प्रवृत्ति में होता है, अतः इस दिशा में प्रयास करना चाहिए। हिल-मिलकर रहने, मिल-बाँटकर खाने से ही हँसती-हँसती परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं। सहयोग से ही प्रगति का पथ-प्रशस्त होता है। संघबद्धता सबसे बड़ी सामर्थ्य है ॥ ६४-६६ ॥

व्याख्या—दैनंदिन जीवन में भक्ति जब समाविष्ट होती है तो उसका शुभारंभ सहकारिता की भावना से होता है। परस्पर अपना उपार्जन बाँटकर खाने की सदाशयता से विकसित होती है। एकाकीपन समाप्त होता है तो अंदर की संकीर्णता का अंधकार पलायन कर जाता है व उदारता का प्रकाश व्याप्त हो जाता है।

संकीर्णस्वार्थभावं ये नरा गृह्णन्ति सर्वदा।

दिव्याभ्यो वञ्चिता नूनमनुभूतिभिरेव ते ॥ ६७ ॥

भक्तिमात्राश्रयेणेमे लाभाः प्राप्यन्त एकदा।

आत्मकल्याणमीशाप्तिर्विश्वकल्याणमेव च ॥ ६८ ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता को अपनाने वाले इस दिव्य अनुभूति से वंचित ही रह जाते हैं। भक्ति ही एकमात्र अवलंबन है, जिसके सहारे आत्मकल्याण, विश्वकल्याण और ईश्वरमिलन के त्रिविध परम लाभ एक साथ मिलते हैं ॥ ६७-६८ ॥

व्याख्या—संकीर्ण स्वार्थपरता को ही भव-बंधन माना गया है जिसके पाश में बँधा जीव भक्ति भावना के उच्चस्तरीय आनंद को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है।

धागे में गाँठ लगी हो तो सुई के छेद में नहीं घुस सकता और उससे सिलाई नहीं हो सकती। मन में स्वार्थ भरी संकीर्णता की गाँठ लगी हो तो वह ईश्वर में नहीं लग सकता और जीवन लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस प्रकार रेशम के कीड़े अपनी लार से अपना घर

बनाते हैं, और उसी में जकड़कर मरते रहते हैं। पर जो चतुर कीड़े होते हैं, वे उस लार से बने घर को काटकर बाहर निकल आते हैं और उड़ जाते हैं। उसी तरह मनुष्य अपने लिए बंधन अपने आप अज्ञान से खड़े करता है, उन्हीं में जकड़ा सड़ता मरता रहता है। यदि वह चाहे तो विवेक रूपी मुख से उन्हें काट भी सकता है और रेशम के कीड़े की तरह बंधन से मुक्त भी हो सकता है।

मनुष्य को कृतकृत्य करने वाली एक दिव्य अनुभूति अनुदान ईश्वर प्रदत्त है वह है ईश्वर भक्ति। जो व्यक्ति अपने को इस लाभ से वंचित रखना चाहता है वही संकीर्ण स्वार्थी बनता है। जो भक्ति का आश्रय लेकर आत्मीयता का क्षेत्र व्यापक बनाता है, वह अपना तो हित साधता ही है, सारे विश्व का कल्याण करता है एवं प्रत्यक्ष अनुभूति उसे ईश्वर से साक्षात्कार के समान होती है। भक्ति ही अंततः मुक्ति का कारण बनती है।

आत्मीयं प्रेमयत्तस्य भावनोद्भरितं मनः।

प्रत्यक्षं स्वर्गं आनंदानुभूतिं तु रसन्ति ये ॥ ६९ ॥

भवन्ति कृतकृत्यास्ते प्राप्तं प्राप्तव्यमेव तैः।

एकार्थसुखसौविध्यभावः संकीर्ण स्वार्थजः ॥ ७० ॥

स नाशयति नूनं तं भक्तिभावं तथा च ये।

अपेक्षया परेषां तु विलासविभवान्विताः ॥ ७१ ॥

भवितुं मनुजा यांति महत्त्वाकांक्षितां हि ते।

जायन्ते निष्ठुरा नूनमाततायिन एव च ॥ ७२ ॥

टीका—आत्मीयता की प्रेमभावना से लबालब भरा हुआ, अंतःकरण प्रत्यक्ष स्वर्ग है। उस आनंदभरी अनुभूति का जो रसास्वादन करते हैं, कृतकृत्य बन जाते हैं, उन्हें मानों अपना संपूर्ण प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है। एकाकी सुख-सुविधा की बात सोचने वाली संकीर्ण-स्वार्थपरता भक्ति-भावना को नष्ट करती है। दूसरों की तुलना में जो अधिक वैभववान विलासी बनने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, वे मनुष्य निष्ठुर एवं आततायी ही बन सकते हैं ॥ ६९-७२ ॥

व्याख्या—लबालब भरा प्याला छलक पड़ता है। जिस व्यक्ति के अंतःकरण में आत्मीयता रूपी रस भरा हुआ है, उससे छलकाए बाँटे बिना रहा नहीं जाता। वह मात्र एक ही चिंतन में लीन रहता है किसे दूँ, कैसे बाँटूँ। फूल से सुगंध छिपाए नहीं बनती। वायु को सुवासित किए बिना उसे संतोष नहीं। मधुमक्खी, भौरों को वह अपना रस पीने के लिए आमंत्रित करती है। कुछ यही स्थिति ऐसे व्यक्ति की होती है जो सदैव आनंद की अनुभूति में मग्न अपने अंदर स्वर्ग लिए उस आनंद को बाँटने में सतत तैयार रहता है। भगवान ऐसे ही व्यक्ति के अंतःकरण में प्रवेश करते हैं।

अहम्मन्यतया सार्धमुदारा भक्तिभावना।

स्थातुं नैव समर्थास्ति द्वयोरेको विशिष्यते ॥ ७३ ॥
जीवनं सरलमुच्चविचारा इति भावनाम् ।
भक्ता भजंति स्वल्पं च भुञ्जते भोजयंत्यलम् ॥ ७४ ॥
याचंते स्वल्पमेवालं प्रयच्छंति च हर्षिताः ।
अल्पं कामयमानास्ते दातुकामाभवंत्यलम् ॥ ७५ ॥

टीका—अहम्मन्यता और उदार भक्ति भावना का एक साथ रह सकना शक्य नहीं। दोनों में से एक को प्रमुखता देनी होती है। इसलिए भक्त जन सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत अपनाते हैं। खाते कम और खिलाते अधिक हैं, माँगते कम और देते अधिक हैं, चाहते कम और देने की इच्छा अधिक रखते हैं इसी में प्रसन्न रहते हैं ॥ ७३-७५ ॥

व्याख्या—सादा जीवन ही संत की मुख्य विशेषता है। यदि ऐसा नहीं है तो संचय की भावना उच्च विचारों को अंदर प्रवेश नहीं करने देगी। मैं तक सीमित व्यक्ति उदार नहीं हो सकता और उदार आत्मीयता से भरा व्यक्ति अपना मैं समष्टि में विलय कर देता है। मानव मात्र के प्रति कर्तव्य की पुकार स्वयं की महत्वाकांक्षाओं के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती।

भक्तिर्भावुकता नैव तत्रोच्चादर्शता मता ।
सरलं ये तु जीवंति तेषामेषा तु संभवेत् ॥ ७६ ॥
अन्ये तात्कालिकान् भावावेशान् भक्तिं वदंति तु ।

भ्रमंति ते भ्रमावर्ते परांश्च भ्रामयंत्यपि ॥ ७७ ॥
टीका—भक्ति, भावुकता नहीं है। उसके पीछे उच्च आदर्श जुड़े रहते हैं। सादा जीवन जीने वालों के लिए भक्ति-भावना जैसी उच्च विचारधारा अपना सकना संभव है। दूसरे लोग तो सस्ते भावावेशों को ही भक्ति कहते हैं और भ्रम में पड़े रहते हैं तथा औरों को भी भ्रमित कर देते हैं ॥ ७६-७७ ॥

व्याख्या—भक्ति अंतः की उदारता का नाम है जो सत्कर्मों में परिणत होती है। थोड़ा-सा रोमांच, भावुकता का प्रवाह ही बहुसंख्य व्यक्तियों को भ्रम में डाल देता है। कीर्तन, स्तवन आदि की महत्ता है उसे निरुद्देश्य बनाकर मात्र आडंबर रच देने से भ्रम जंजाल और फैलता है। ऐसे व्यक्ति तो कुछ पाते नहीं, अपने साथ कई मंद बुद्धि भावुकों को भी भक्ति के आनंद से वंचित कर दिग्भ्रांत कर देते हैं। आदर्श यदि जीवन में न उतरें तो ऐसा सस्ता भावावेश किस काम का?

संकीर्णास्वार्थपरतैव विद्यते भवबंधनम् ।
लोभमोहावहंकार इति तस्यास्त्रयः सुताः ॥ ७८ ॥
इदं कुटुंबं यत्रापि वासमाधायति ध्रुवम् ।
तत्रेष्ट्याकलहद्वेषपातदुर्व्यसनानि च ॥ ७९ ॥
प्रसंगात्प्रत्यहं नूनमुदेष्यंति तथेदृशाः ।
आत्मप्रताडनां लोकभर्त्सनां प्राप्नुवंति च ॥ ८० ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता ही भव-बंधन है। लोभ-मोह और अहंकार उसी के तीन पुत्र हैं। यह परिवार जहाँ भी

बसेगा वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, दुर्व्यसन और पतन के प्रसंग आए दिन उभरते रहेंगे। ऐसे लोग आत्म प्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहते रहते हैं ॥ ७८-८० ॥

व्याख्या—संकीर्ण स्वार्थपरता आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में चट्टान बनकर आ खड़ी होती है, इस प्रसंग की चर्चा महाप्राज्ञ इसी प्रकरण में पहले कर चुके हैं। भक्ति तत्व की व्याख्या करने के उपरांत वे इस अवरोध का विस्तार करते हुए बताते हैं कि उदार आत्मीयता व्यवहार में न उतरने का मूल कारण लोभ, मोह और अहंकार रूपी भव बंधन ही है। तीनों ही एक से एक बढ़कर हैं। यह तय नहीं किया जा सकता कि कौन प्रथम है, कौन द्वितीय? यह परिवार ऐसा है जिसमें रावण, अहिरावण जैसे सगे भाई प्रतीत होते हैं। तिनके जैसी हलकी कोई वस्तु पर्वत जैसी भारी बनकर आदर्शवादी कहे जाने वाले व्यक्तियों को दिग्भ्रांत कर उनके मनःक्षेत्र पर भूत-पिशाच की तरह कैसे चढ़ बैठती है और भली-चंगी परिस्थितियाँ होते हुए भी नारकीय उत्पीड़नों की तरह निरंतर संतप्त करती रहती है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण दैनंदिन जीवन के प्रसंगों में देखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति भीतर की लानत और बाहर का धिक्कार दोनों जीते जी सहते व नरक भोगते हैं।

पूजयाऽपि प्रसीदंति तेषु देवा न किंतु ते ।
दुरात्मनां मनोभावं ज्ञात्वा क्रुध्यंति नित्यशः ॥ ८१ ॥
सन्तापं शमयत्येनं पूर्णतो भक्तिभावना ।
अतो भक्तिश्च मुक्तिश्च सघने संयुते मते ॥ ८२ ॥
स्वार्थान्धतां नरो यावन्मात्रया यो त्यजत्यसौ ।
अनुपातेन तेनैव जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ ८३ ॥

टीका—पूजा करने पर भी देवता प्रसन्न नहीं होते और इन दुरात्माओं की मनःस्थिति को समझते हुए उन पर कोप ही बरसाते रहते हैं। भक्ति भावना ही इस तपन को पूर्णरूपेण बुझाती है। इसलिए भक्ति और मुक्ति को परस्पर सघन संयुक्त माना जाता है। जो जिस मात्रा में स्वार्थान्धता का परित्याग करेगा, वह उसी अनुपात में जीवन्मुक्त बनता जाएगा ॥ ८१-८३ ॥

व्याख्या—लोभ-मोह-अहंता की बेड़ियों में जकड़े व्यक्ति अपना मन समझाने को पूजा-पाठ जैसा बाह्योपचार कर भी लें तो भी दैवी कोप के भागी होते ही हैं। अपनी गरिमा को भुलाकर जो भी अमानवीय कृत्यों में उलझता है, उसकी मनःस्थिति भगवत्सत्ता के समक्ष तो नंगी ही रहती है, बहिरंग थोड़े ही प्रभावित करता है।

भगवान तो भाव के भूखे हैं। भावहीन उपचार को वे धोखा मानते हैं। जब भावनापूर्वक, अपना सब कुछ उसको समर्पित कर भक्ति की जाती है तो वह अग्नि शांत होती है जो

१.४२ प्रज्ञोपनिषद्

व्यक्ति को जीते जी नरक का त्रास भोगने को विवश कर देती है। जैसे-जैसे ये बंधन ढीले होते जाते हैं, भक्त भगवान परस्पर सघन होते चले जाते हैं तथा व्यक्ति अंधकार से प्रकाश की ओर जीवन्मुक्ति की ओर बढ़ता चला जाता है।

ईशप्राप्तेर्भक्तिरेकमवलंबनमस्ति हि ।

उदारात्मीयभावानुप्राणिताऽऽदर्शवादिनी ॥ ८४ ॥

सा परायणता या तु परार्था तत्र दृश्यते।

भक्तेः सा भावना सत्यायया दिव्यत्वमाप्यते ॥ ८५ ॥

टीका—ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र अवलंबन भक्ति ही है। उदार आत्मीयता से अनुप्राणित आदर्शवादी, परमार्थ परायणता में ही सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। जो मनुष्य को दिव्य बनाती है ॥ ८४-८५ ॥

व्याख्या—भक्ति वह सूत्र है जो जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर उसे दिव्य बना देती है। भक्ति अंतः से उफन कर आने वाली, परहित के लिए त्याग-समर्पण की भावना है। यही मानव को महामानव बना देती है। बाह्य कर्मकांड में उलझकर जो परमात्मा के इस दिव्य स्वरूप को समझता है वह कभी टपकता नहीं।

यथा वेलादिनेनयं रात्रेस्तु मिलनस्य हि।

उषः कालोबुधैः प्रोक्तः प्राणिनो यत्र जाग्रति ॥ ८६ ॥

परात्मना ऽऽत्मनः संगस्यास्ति नूनं तथा त्वयम्।

भक्तिभावोदयो ह्येष प्रमाणमिह गोचरम् ॥ ८७ ॥

टीका—जैसे रात्रि के दिन के साथ मिलने वेला को उषाकाल कहते हैं, जिसमें प्राणिमात्र जग जाते हैं, वैसे ही आत्मा और परमात्मा से मिलन का प्रत्यक्ष प्रमाण भक्ति-भावना के उदय में देखा जाता है ॥ ८६-८७ ॥

भक्ति एक प्रकार से अंदर के अंधकार को मिटाने वाला दिव्य प्रकाश है। आत्मा-परमात्मा का मिलन जीव का परम लक्ष्य है और यह उन्हीं में संभव हो पाता है जिनमें अंतः से भक्ति तत्व का उदय होता है। भगवान से मिलने का एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है भक्ति का आनंद। जिसके बहिरंग में आत्मीयता

विस्तार व परमार्थ साधन के रूप में जितनी मात्रा में यह परिलक्षित होने लगे, समझना चाहिए कि वह भगवान के उतना समीप पहुँच गया। यह तभी संभव है जब व्यक्ति अपना मूल असितत्त्व खो दे, अपनी सत्ता को परमात्म सत्ता में समाहित मान ले।

आदर्शान्प्रतिभक्तिः सा भवत्येनां तु व्यक्तिभिः।

देवताभिस्तु काभिश्चिद् योजकात्तु महामुने ॥ ८८ ॥

भिन्नां मोहप्रसंगाच्च मन्यत उच्चसंश्रयाम्।

ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेण्यां तत्र तद्दिने ॥ ८९ ॥

स्नाता जिज्ञासवो जाताः प्रसन्नास्ते मनीषिणः।

अज्ञायि ब्रह्मविद्याया गुप्तानां रहसामलम् ॥ ९० ॥

लाभो ऽसाधारणस्त्वस्मिन् सत्संगे प्राप्यते तु तैः।

इत्थं सत्रं समाप्तं तच्चतुर्थं ते मनीषिणः ॥ ९१ ॥

टीका—हे मुनीश्वर भक्ति आदर्शों के प्रति होती है। उसे किसी व्यक्ति या देवता के साथ जुड़ने वाले मोह प्रसंग से सर्वथा भिन्न एवं उच्चस्तरीय ही माना गया है। ज्ञान कर्म के साथ भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करके उस दिन सभी जिज्ञासु मनीषी बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा लगा मानो ब्रह्मविद्या का असाधारण लाभ इस सुयोग सत्संग में उन्हें उपलब्ध हो रहा है। इस प्रकार चौथा सत्र दिवस समाप्त हुआ ॥ ८८-९१ ॥

व्याख्या—उदार भक्ति भावना प्रकरण का समापन करते हुए महाप्राज्ञ दुहराते हैं कि भक्ति सदैव सही अर्थों में आत्मसात् की जाए। माध्यमों को ही लक्ष्य न मानकर, साध्य मानकर आत्मज्ञान, कर्तव्यों का परिपूर्ण निष्ठा से पालन तथा आदर्शों से सघनता जोड़ने का अभ्यास करते हुए आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त किया जाए। जब तक इस क्रम का अभ्यास न होगा, समय क्षेप तो होगा ही, भ्रम-जंजाल के भटकाव थकान और लदेंगे। मनीषियों ने ईश्वरीय सत्ता के सही स्वरूप को समझा और मनुष्य के परम कर्तव्य आदर्शों के परिपालन हेतु निष्ठापूर्वक जुट गए।

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्या ऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि संवादे उदारभक्तिभावना - इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥